रामगीता–(१)

[पुराणेतिहास ग्रन्थोंमें कई रामगीताएँ पायी जाती हैं। प्रत्येकमें वक्ता भगवान् श्रीराम ही हैं, परंतु श्रोता तथा प्रतिपाद्य-विषय भिन्न-भिन्न है। अध्यात्मरामायणके उत्तरकाण्डके पंचम सर्गके रूपमें एक रामगीता प्राप्त होती है। सीता-वनवास प्रसंगके अनन्तर एक बार जब लक्ष्मणजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे अज्ञानरूपी सागरको पार करानेवाले ज्ञानोपदेश देनेकी प्रार्थना की, तब श्रीरघुनाथजीने उनको जो उपदेश दिया, वही 'रामगीता' कहलाती है। इसमें युक्तियुक्त विवेचनद्वारा आत्मज्ञानको ही विशुद्ध ज्ञान बताकर समस्त इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करके आत्मानुसन्धानहेतु प्रेरित किया गया है। विवेच्य-सामग्री गूढ़ वेदान्तिक होते हुए भी सहज तथा सारगर्भित है। इस रामगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

श्रीमहादेव उवाच

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं
रामं रमालालितपादपङ्कजम्।
सौमित्रिरासादितशुद्धभावनः
प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत्॥ १॥

किसी दिन भगवान् राम, जिनके चरणकमलोंकी सेवा साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी करती हैं, एकान्तमें बैठे हुए थे। उस समय शुद्ध विचारवाले लक्ष्मणजीने (उनके पास जाकर) उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणामकर अति विनीतभावसे कहा— ॥ १ ॥

त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम्।

भगवान् श्रीरामद्वारा लक्ष्मणजीको उपदेश

प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम् ॥ २ ॥

हे महामते! आप शुद्धज्ञानस्वरूप, समस्त देहधारियोंके आत्मा, सबके स्वामी और स्वरूपसे निराकार हैं। जो आपके चरणकमलोंके लिये भ्रमररूप हैं, उन परमभागवतोंके सहवासके रसिकोंको ही आप ज्ञानदृष्टिसे दिखलायी देते हैं॥ २॥

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो
भवापवर्गं तव योगिभावितम्।
यथाञ्जसाज्ञानमपारवारिधिं
सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम्॥ ३॥

हे प्रभो! योगिजन जिनका निरन्तर चिन्तन करते हैं, संसारसे छुड़ानेवाले उन आपके चरणकमलोंकी मैं शरण हूँ, आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मैं सुगमतासे ही अज्ञानरूपी अपार समुद्रके पार हो जाऊँ॥ ३॥

श्रुत्वाथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा
प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः।
विज्ञानमज्ञानतमःप्रशान्तये
श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः॥ ४॥

श्रीलक्ष्मणजीके ये सब वचन सुनकर शरणागतवत्सल भूपालशिरोमणि भगवान् राम सुननेके लिये उत्सुक हुए लक्ष्मणको उनके अज्ञानान्धकारका नाश करनेके लिये प्रसन्नचित्तसे ज्ञानोपदेश करने लगे॥ ४॥

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ॥ ५॥

[भगवान् श्रीराम बोले—] सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और

आश्रमके लिये (शास्त्रोंमें) बतलायी हुई क्रियाओंका यथावत् पालनकर, चित्त शुद्ध हो जानेपर उन कर्मोंको छोड़ दे और शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय॥ ५॥

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः॥ ६॥

कर्म देहान्तरकी प्राप्तिके लिये ही स्वीकार किये गये हैं; क्योंकि उनमें प्रेम रखनेवाले पुरुषोंसे इष्ट-अनिष्ट दोनों ही प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। उनसे धर्म और अधर्म दोनोंहीकी प्राप्ति होती है और उनके कारण शरीर प्राप्त होता है, जिससे फिर कर्म होते हैं। इसी प्रकार यह संसार चक्रके समान चलता रहता है॥ ६॥

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥ ७॥

संसारका मूल कारण अज्ञान ही है और इन (शास्त्रीय) विधिवाक्योंमें उस (अज्ञान)-का नाश ही (संसारसे मुक्त होनेका) उपाय बतलाया गया है! अज्ञानका नाश करनेमें ज्ञान ही समर्थ है, (सकाम) कर्म नहीं, क्योंकि उस (अज्ञान)-से उत्पन्न होनेवाला कर्म उसका विरोधी नहीं हो सकता*॥ ७॥

नाज्ञानहानिर्न च रागसङ्क्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्।

* 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' अर्थात् जो कार्य जिस सम्बन्धसे उत्पन्न होता है, वह उस सम्बन्धके नाशका कारण नहीं हो सकता। इसी न्यायके अनुसार अज्ञानसे उत्पन्न कर्मके द्वारा अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता।

ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान् भवेत्॥ ८॥

सकाम कर्मद्वारा अज्ञानका नाश अथवा रागका क्षय नहीं हो सकता, बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्मकी उत्पत्ति होती है। उससे पुनः संसारकी प्राप्ति होना अनिवार्य है। इसलिये बुद्धिमान्‌को ज्ञान-विचारमें ही तत्पर होना चाहिये॥ ८॥

ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता
तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम्।
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता
विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः॥ ९॥
कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ
तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा।
ननु स्वतन्त्रा ध्रुवकार्यकारिणी
विद्या न किञ्चिन्मनसाप्यपेक्षते॥ १०॥
न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः
प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान्।
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितै-
र्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये॥ ११॥

कुछ वितर्कवादी ऐसा कहते हैं कि जिस प्रकार वेदके कथनानुसार ज्ञान पुरुषार्थका साधक है, वैसे ही कर्म वेदविहित हैं; और प्राणियोंके लिये कर्मोंकी अवश्य-कर्तव्यताका विधान भी है, इसलिये वे कर्म ज्ञानके सहकारी हो जाते हैं। साथ ही श्रुतिने कर्म न करनेमें दोष भी बतलाया है; इसलिये मुमुक्षुको उन्हें सर्वदा करते रहना चाहिये, और यदि कोई कहे कि ज्ञान स्वतन्त्र है एवं निश्चय ही अपना फल देनेवाला है, उसे मनसे भी किसी औरकी सहायताकी आवश्यकता

नहीं है तो उसका यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि जिस प्रकार (वेदोक्त) यज्ञ सत्य कर्म होनेपर भी अन्य कारकादिकी अपेक्षा करता ही है, उसी प्रकार विधिसे प्रकाशित कर्मोंके द्वारा ही ज्ञान मुक्तिका साधक हो सकता है। (अतः कर्मोंका त्याग उचित नहीं है)॥ ९—११॥

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिन-
स्तदप्यसद्दृष्टविरोधकारणात् ।
देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया
विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति॥ १२॥

(सिद्धान्ती-) ऐसा जो कोई कुतर्की कहते हैं, उनके कथनमें प्रत्यक्ष विरोध होनेके कारण वह ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म देहाभिमानसे होता है और ज्ञान अहंकारके नाश होनेपर सिद्ध होता है॥ १२॥

विशुद्धविज्ञानविरोचनाञ्चिता
विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते।
उदेति कर्माखिलकारकादिभि-
र्निहन्ति विद्याखिलकारकादिकम्॥ १३॥

(वेदान्तवाक्योंका विचार करते-करते) विशुद्ध विज्ञानके प्रकाशसे उद्भासित जो चरम आत्मवृत्ति होती है, उसीको विद्या (आत्मज्ञान) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कर्म सम्पूर्ण कारकादिकी सहायतासे होता है, किन्तु विद्या समस्त कारकादिका (अनित्यत्वकी भावनाद्वारा) नाश कर देती है॥ १३॥

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधी-
र्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत्।
आत्मानुसन्धानपरायणः सदा
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥ १४॥

इसलिये समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त होकर निरन्तर

आत्मानुसन्धानमें लगा हुआ बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि विद्याका विरोधी होनेके कारण कर्मका उसके साथ समुच्चय नहीं हो सकता॥ १४॥

यावच्छरीरादिषु मायया त्मधी-
स्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम्।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य त-
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः॥ १५॥

जबतक मायासे मोहित रहनेके कारण मनुष्यका शरीरादिमें आत्मभाव है, तभीतक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान कर्तव्य है। 'नेति-नेति' आदि वाक्योंसे सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंका निषेध करके अपने परमात्म-स्वरूपको जान लेनेपर फिर उसे समस्त कर्मोंको छोड़ देना चाहिये॥ १५॥

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं
विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम्।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा
सकारका कारणमात्मसंसृतेः॥ १६॥

जिस समय परमात्मा और जीवात्माके भेदको दूर करनेवाला प्रकाशमय विज्ञान अन्तःकरणमें स्पष्टतया भासित होने लगता है। उसी समय आत्माके लिये संसार-प्राप्तिकी कारण माया अनायास ही कारकादिके सहित लीन हो जाती है॥ १६॥

श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा
कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी।
विज्ञानमात्रादमलाद्वितीयत-
स्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति॥ १७॥

श्रुति-प्रमाणसे उसके नष्ट कर दिये जानेपर फिर वह अपना कार्य करनेमें समर्थ भी किस प्रकार हो सकेगी? क्योंकि परमार्थतत्त्व

एकमात्र ज्ञानस्वरूप, निर्मल और अद्वितीय है। अतः (बोध हो जानेपर) फिर अविद्या उत्पन्न नहीं होगी॥ १७॥

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते
कर्ताहमस्येति मतिः कथं भवेत्।
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते
विद्या विमोक्षाय विभाति केवला॥ १८॥

जब एक बार नष्ट हो जानेपर अविद्याका फिर जन्म ही नहीं होता तो बोधवान्‌को 'मैं इस कर्मका कर्ता हूँ'—ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है? इसलिये ज्ञान स्वतन्त्र है, उसे जीवके मोक्षके लिये किसी और (कर्मादि)-की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं अकेला ही उसके लिये समर्थ है॥ १८॥

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम्।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति-
र्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम्॥ १९॥

इसके सिवा तैत्तिरीय शाखाकी प्रसिद्ध श्रुति[१] भी आग्रहपूर्वक स्पष्ट कहती है कि समस्त कर्मोंका त्याग करना ही अच्छा है तथा 'एतावत्' इत्यादि वाजसनेयी शाखाकी श्रुति[२] भी कहती है कि मोक्षका साधन ज्ञान ही है कर्म नहीं॥ १९॥

विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया
क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः।
फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः
संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम्॥ २०॥

और तुमने जो ज्ञानकी समानतामें यज्ञादिका दृष्टान्त दिया सो

१-'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।' (तै० आ० १०। १०)
२-'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (बृ० उ० ४। ५। १५)।

ठीक नहीं है, क्योंकि उन दोनोंके फल अलग-अलग हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ तो (होता, ऋत्विक्, यजमान आदि) बहुत-से कारकोंसे सिद्ध होता है और ज्ञान इससे विपरीत है (अर्थात् वह कारकादिसे साध्य नहीं है)॥ २०॥

सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी-
रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः।
तस्माद् बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि-
र्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम्॥ २१॥

(कर्मके त्याग करनेसे) मैं अवश्य प्रायश्चित्त-भागी होऊँगा—ऐसी अनात्म-बुद्धि अज्ञानियोंको हुआ करती है, तत्त्वज्ञानीको नहीं। इसलिये विकाररहित चित्तवाले बोधवान् पुरुषको विहित कर्मोंका भी विधिपूर्वक त्याग कर देना चाहिये॥ २१॥

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः
सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः॥ २२॥

फिर शुद्धचित्त होकर श्रद्धापूर्वक गुरुकी कृपासे 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यके द्वारा परमात्मा और जीवात्माकी एकता जानकर सुमेरुके समान निश्चल एवं सुखी हो जाय॥ २२॥

आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं
वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्मजीवका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत्॥ २३॥

यह नियम ही है कि प्रत्येक वाक्यका अर्थ जाननेमें पहले उसके पदोंके अर्थका ज्ञान ही कारण है। (इस 'तत्त्वमसि' महावाक्यके)

'तत्' और 'त्वम्' पद क्रमसे परमात्मा और जीवात्माके वाचक हैं और 'असि' उन दोनोंकी एकता करता है॥ २३॥

प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनो-
र्विहाय सङ्गृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां
ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत्॥ २४॥

इन दोनों (जीवात्मा और परमात्मा)-में जीवात्मा प्रत्यक् (अन्तःकरणका साक्षी) है और परमात्मा परोक्ष (इन्द्रियातीत) है, इस (वाच्यार्थरूप) विरोधको छोड़कर और लक्षणावृत्तिसे लक्षित उनकी शुद्ध चेतनताको ग्रहणकर उसे ही अपना आत्मा जाने और इस प्रकार एकीभावसे स्थित हो॥ २४॥

एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवे-
त्तथाजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयं पदार्थाविव भागलक्षणा
युज्येत तत्त्वं पदयोरदोषतः॥ २५॥

इन 'तत्' और 'त्वम्' पदोंमें एकरूप होनेके कारण जहतीलक्षणा नहीं हो सकती और परस्पर विरोध होनेके कारण अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती। इसलिये 'सोऽयम्' (यह वही है) इन दोनों पदोंके अर्थकी भाँति इन 'तत्' और 'त्वम्' पदोंमें भी भागत्यागलक्षणा ही निर्दोषतासे हो सकती है*॥ २५॥

---

* जहाँ शब्दोंके वाच्यार्थ (अर्थात् उनकी शक्तिवृत्तिसे सिद्ध होनेवाले अर्थ)-को छोड़कर दूसरा अर्थ लिया जाता है, वहाँ लक्षणावृत्ति होती है। वह जहती, अजहती और जहत्यजहती नामसे तीन प्रकारकी है। जहतीलक्षणामें शब्दके वाच्यार्थका सर्वथा त्याग करके उसका बिलकुल नया ही अर्थ किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' (गंगाजीपर पशुशाला है) इस वाक्यके वाच्यार्थसे गंगाजीके प्रवाहपर पशुशालाका होना सिद्ध होता है। परन्तु यह सर्वथा असम्भव है। इसलिये यहाँ 'गंगा' शब्दका अर्थ 'गंगाप्रवाह' न

रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं
भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम्।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं
मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः॥ २६॥
सूक्ष्मं मनोबुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं
प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवे-
च्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः॥ २७॥

पृथिवी आदि पंचीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए, सुख-दुःखादि कर्म-भोगोंके आश्रय और पूर्वोपार्जित कर्मफलसे प्राप्त होनेवाले इस मायामय आदि-अन्तवान् शरीरको विज्ञजन आत्माकी स्थूल उपाधि मानते हैं और मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण (इन सत्रह अंगों)-

---

करके 'गंगा-तीर' किया जाता है। परंतु 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थ 'ईश्वर' और 'जीव' का सर्वथा त्याग कर देनेसे उन दोनोंकी चेतनताका भी त्याग हो जाता है और चेतनताकी एकता ही अभीष्ट है; इसलिये जहतीलक्षणासे इन पदोंके अर्थकी एकता नहीं हो सकती। अजहतीलक्षणामें वाच्यार्थका त्याग न करके उसके साथ अन्य अर्थ भी ग्रहण किया जाता है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओंसे दहीकी रक्षा करो) इस वाक्यका अभिप्राय केवल कौओंसे दहीकी रक्षा कराना ही नहीं है, बल्कि उसके साथ कुत्ता, बिल्ली आदि अन्य जीवोंसे सुरक्षित रखना भी है। यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थोंमें विरोध है, फिर अन्य अर्थको सम्मिलित करनेसे भी वह विरोध तो दूर होगा ही नहीं, इसलिये अजहल्लक्षणासे भी इनकी एकता सिद्ध नहीं हो सकती। इन दोनोंके सिवा जहाँ कुछ अर्थ रखा जाता है और कुछ छोड़ा जाता है, वह जहत्यजहती (भागत्याग) लक्षणा होती है। जैसे 'सोऽयम्' (यह वही है) इस वाक्यमें 'अयम्' पदसे कहे जानेवाले पदार्थकी अपरोक्षता और 'सः' पदके वाच्य पदार्थकी परोक्षताका त्याग करके इन दोनोंसे रहित जो निर्विशेष पदार्थ है, उसकी एकता कही जाती है। इसी प्रकार महावाक्यके 'तत्' पदके वाच्य 'ईश्वर' के गुण सर्वज्ञता, परोक्षता आदिका और 'त्वम्' पदके वाच्य 'जीव' के गुण अल्पज्ञता, प्रत्यक्षता आदिका त्याग करके केवल चेतनांशमें एकता बतलायी जाती है।

से युक्त और अपंचीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीरको जो भोक्ताके सुख-दुःखादि अनुभवका साधन है, आत्माका दूसरा देह मानते हैं॥ २६-२७॥

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं
मायाप्रधानं तु परं शरीरकम्।
उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं
स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात् ॥ २८॥

(इनके अतिरिक्त) अनादि और अनिर्वाच्य मायामय कारण-शरीर ही जीवका तीसरा देह है। इस प्रकार उपाधि-भेदसे सर्वथा पृथक् स्थित अपने आत्मरूपको क्रमशः (उपाधियोंका बाध करते हुए) अपने हृदयमें निश्चय करे ॥ २८॥

कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृति-
र्विभाति सङ्गात्स्फटिकोपलो यथा।
असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो
विज्ञायतेऽस्मिन् परितो विचारिते॥ २९॥

स्फटिकमणिके समान यह आत्मा भी (अन्नमयादि) भिन्न-भिन्न कोशोंमें उनके संगसे उन्हींके आकारका भासने लगता है। किन्तु इसका भली प्रकार विचार करनेसे यह अद्वितीय होनेके कारण असंगरूप और अजन्मा निश्चित होता है॥ २९॥

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते
स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः।
अन्योन्यतोऽस्मिन् व्यभिचारतो मृषा
नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे॥ ३०॥

त्रिगुणात्मिका बुद्धिकी ही स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति-भेदसे तीन प्रकारकी वृत्तियाँ दिखायी देती हैं, किन्तु इन तीनों वृत्तियोंमेंसे प्रत्येकका

एक-दूसरीमें व्यभिचार होनेके कारण ये (तीनों ही) एकमात्र कल्याणस्वरूप नित्य परब्रह्ममें मिथ्या हैं (अर्थात् उसमें इन वृत्तियोंका सर्वथा अभाव है)॥ ३०॥

देहेन्द्रियप्राणमनश्चिदात्मनां
सङ्घादजस्त्रं परिवर्तते धियः।
वृत्तिस्तमोमूलतयाज्ञलक्षणा
यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः॥ ३१॥

बुद्धिकी वृत्ति ही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और चेतन आत्माके संघातरूपसे निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। यह वृत्ति तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाली होनेके कारण अज्ञानरूपा है और जबतक यह रहती है, तबतक ही संसारमें जन्म होता रहता है॥ ३१॥

नेतिप्रमाणेन निराकृताखिलो
हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं
पीत्वा यथाम्भः प्रजहाति तत्फलम्॥ ३२॥

'नेति-नेति' आदि श्रुति-प्रमाणसे निखिल संसारका बाध करके और हृदयमें चिद्घनामृतका आस्वादन करके सम्पूर्ण जगत्को, उसके साररूप सत् (ब्रह्म)-को ग्रहण करके त्याग दे, जैसे नारियलके जलको पीकर मनुष्य उसे फेंक देते हैं॥ ३२॥

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते
न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः।
निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः
स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः॥ ३३॥

आत्मा न कभी मरता है न जन्मता है; वह न कभी क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। वह पुरातन, सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित,

सुखस्वरूप, स्वयंप्रकाश, सर्वगत और अद्वितीय है॥ ३३॥

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके
कथं भवो दुःखमयः प्रतीयते।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते
ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात्॥ ३४॥

जो इस प्रकार ज्ञानमय और सुखस्वरूप है, उसमें यह दुःखमय संसारकी प्रतीति कैसे हो सकती है? यह तो अध्यासके कारण अज्ञानसे ही दिखायी दे रहा है, ज्ञानसे तो यह एक क्षणमें ही लीन हो जाता है; क्योंकि ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है॥ ३४॥

यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥ ३५॥

भ्रमसे जो अन्यमें अन्यकी प्रतीति होती है, उसीको विद्वानोंने अध्यास कहा है। जिस प्रकार असर्परूप रज्जु आदिमें सर्पकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ईश्वरमें संसारकी प्रतीति हो रही है॥ ३५॥

विकल्पमायारहिते चिदात्मकेऽ-
हङ्कार एष प्रथमः प्रकल्पितः।
अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे
निरामये ब्रह्मणि केवले परे॥ ३६॥

जो विकल्प और मायासे रहित है, उस सबके कारण निरामय, अद्वितीय और चित्स्वरूप परमात्मा ब्रह्ममें पहले इस 'अहंकार' रूप अध्यासकी ही कल्पना होती है॥ ३६॥

इच्छादिरागादिसुखादिधर्मिकाः
सदा धियः संसृतिहेतवः परे।

यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः
सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः॥ ३७॥

सबके साक्षी आत्मामें इच्छा, अनिच्छा, राग-द्वेष और सुख-दुःखादिरूप बुद्धिकी वृत्तियाँ ही जन्म-मरणरूप संसारकी कारण हैं; क्योंकि सुषुप्तिमें इनका अभाव हो जानेपर हमें आत्माका सुखरूपसे भान होता है॥ ३७॥

अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिबिम्बितो
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो
बुद्ध्यापरिच्छिन्नपरः स एव हि॥ ३८॥

अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुई बुद्धिमें प्रतिबिम्बित यह चेतनका प्रकाश ही 'जीव' कहलाता है। बुद्धिके साक्षीरूपसे आत्मा उससे पृथक् है, वह परात्मा तो बुद्धिसे अपरिच्छिन्न है॥ ३८॥

चिद्बिम्बसाक्ष्यात्मधियां प्रसङ्गत-
स्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत्।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते
जडाजडत्वं च चिदात्मचेतसोः॥ ३९॥

अग्निसे तपे हुए लोहेके समान चिदाभास, साक्षी आत्मा तथा बुद्धिके एकत्र रहनेसे परस्पर अन्योन्याध्यास होनेके कारण क्रमशः उनकी चेतनता और जडता प्रतीत होती है। (अर्थात् जिस प्रकार अग्निसे तपे हुए लोहपिण्डमें अग्नि और लोहेका तादात्म्य हो जानेसे लोहेका आकार अग्निमें और अग्निकी उष्णता लोहेमें दिखायी देने लगती है, उसी प्रकार बुद्धि और आत्माका तादात्म्य हो जानेसे आत्माकी चेतनता बुद्धि आदिमें और बुद्धि आदिकी जडता आत्मामें प्रतीत होने लगती है। इसलिये अध्यासवश बुद्धिसे लेकर शरीरपर्यन्त अनात्म-वस्तुओंको ही आत्मा मानने लगते हैं)॥ ३९॥

गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः
सञ्जातविद्यानुभवो निरीक्ष्य तम्।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं
त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम्॥ ४०॥

गुरुके समीप रहनेसे और वेदवाक्योंसे आत्मज्ञानका अनुभव होनेपर अपने हृदयस्थ उपाधिरहित आत्माका साक्षात्कार करके आत्मारूपसे प्रतीत होनेवाले देहादि सम्पूर्ण जडपदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये॥ ४०॥

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयोऽ-
सकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः॥ ४१॥

मैं प्रकाशस्वरूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरन्तर, भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और एकमात्र आनन्द-स्वरूप हूँ॥ ४१॥

सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्यशक्तिमा-
नतीन्द्रियज्ञानमविक्रयात्मकः।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधै-
र्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः॥ ४२॥

मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्यशक्ति, अतीन्द्रिय, ज्ञानस्वरूप, अविकृतरूप और अनन्त-पार हूँ। वेदवादी पण्डितजन अहर्निश मेरा हृदयमें चिन्तन करते हैं॥ ४२॥

एवं सदात्मानमखण्डितात्मना
विचारमाणस्य विशुद्धभावना।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै
रसायनं यद्वदुपासितं रुजः॥ ४३॥

इस प्रकार सदा आत्माका अखण्डवृत्तिसे चिन्तन करनेवाले पुरुषके

अन्त:करणमें उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरन्त ही कारकादिके सहित अविद्याका नाश कर देती है, जिस प्रकार नियमानुसार सेवन की हुई ओषधि रोगको नष्ट कर डालती है॥ ४३॥

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशय:।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थित:॥ ४४॥

(आत्मचिन्तन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि) एकान्त देशमें इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर और अन्त:करणको अपने अधीन करके बैठे तथा आत्मामें स्थित होकर और किसी साधनका आश्रय न लेकर शुद्धचित्त हुआ केवल ज्ञानदृष्टिद्वारा एक आत्माकी ही भावना करे॥ ४४॥

विश्वं यदेतत्परमात्मदर्शनं
विलापयेदात्मनि सर्वकारणे।
पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते
न वेद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम्॥ ४५॥

यह विश्व परमात्मस्वरूप है, ऐसा समझकर इसे सबके कारणरूप आत्मामें लीन करे; इस प्रकार जो पूर्ण चिदानन्दस्वरूपसे स्थित हो जाता है, उसे बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं रहता॥ ४५॥

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तये-
दोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत्।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको
विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधत:॥ ४६॥

समाधि प्राप्त होनेके पूर्व ऐसा चिन्तन करे कि सम्पूर्ण चराचर

जगत् केवल ओंकारमात्र है। यह संसार वाच्य है और ओंकार इसका वाचक है। अज्ञानके कारण ही इसकी प्रतीति होती है। ज्ञान होनेपर इसका कुछ भी नहीं रहता॥ ४६॥

अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको
ह्युकारकस्तैजस ईर्यते क्रमात्।
प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः
समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत्॥ ४७॥

(ओंकारमें अ, उ और म—ये तीन वर्ण हैं; इनमेंसे) अकार विश्व (जागृतिके अभिमानी)-का वाचक है, उकार तैजस (स्वप्नका अभिमानी) कहलाता है और मकार प्राज्ञ (सुषुप्तिके अभिमानी)-को कहते हैं; यह व्यवस्था समाधिलाभसे पहलेकी है, तत्त्वदृष्टिसे ऐसा कोई भेद नहीं है॥ ४७॥

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये-
दुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम्।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं
द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे॥ ४८॥

नाना प्रकारसे स्थित अकाररूप विश्व-पुरुषको उकारमें लीन करे और ओंकारके द्वितीय वर्ण तैजसरूप उकारको उसके अन्तिम वर्ण मकारमें लीन करे॥ ४८॥

मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेत्प्राज्ञमपीह कारणम्।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिमद्-
विज्ञानदृङ्मुक्त उपाधितोऽमलः॥ ४९॥

फिर कारणात्मा प्राज्ञरूप मकारको भी चिद्घनरूप परमात्मामें लीन करे; (और ऐसी भावना करे कि) वह नित्यमुक्त विज्ञानस्वरूप

उपाधिहीन निर्मल परब्रह्म मैं ही हूँ॥ ४९॥

एवं सदा जातपरात्मभावनः
स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः।
आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः
साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत् ॥ ५०॥

इस प्रकार निरन्तर परमात्मभावना करते-करते जो आत्मानन्दमें मग्न हो गया है तथा जिसे सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच विस्मृत हो गया है, वह नित्य आत्मानन्दका अनुभव करनेवाला जीवन्मुक्त योगी निस्तरंग समुद्रके समान साक्षात् मुक्तस्वरूप हो जाता है॥ ५०॥

एवं सदाभ्यस्तसमाधियोगिनो
निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य हि।
विनिर्जिताशेषरिपोरहं सदा
दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः॥ ५१॥

इस प्रकार जो निरन्तर समाधियोगका अभ्यास करता है, जिसके सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर विषय निवृत्त हो गये हैं तथा जिसने काम-क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओंको परास्त कर दिया है, उस छहों इन्द्रियों (मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों)-को जीतनेवाले महात्माको मेरा निरन्तर साक्षात्कार होता है॥ ५१॥

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनि-
स्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः।
प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो
मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः॥ ५२॥

इस प्रकार अहर्निश आत्माका ही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर रहे तथा (कर्ता-भोक्तापनके) अभिमानको छोड़कर प्रारब्धफल भोगता रहे। इससे वह अन्तमें साक्षात् मुझहीमें

लीन हो जाता है॥ ५२॥

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो
भवं विदित्वा भयशोककारणम्।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं
भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम् ॥ ५३॥

संसारको आदि, अन्त और मध्यमें सब प्रकार भय और शोकका ही कारण जानकर समस्त वेदविहित कर्मोंको त्याग दे तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मारूप अपने आत्माका भजन करे॥ ५३॥

आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं
भवत्यभेदेन मयात्मना तदा।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः
क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः॥ ५४॥

जिस प्रकार समुद्रमें जल, दूधमें दूध, महाकाशमें घटाकाशादि और वायुमें वायु मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपंचको अपने आत्माके साथ अभिन्नरूपसे चिन्तन करनेसे जीव मुझ परमात्माके साथ अभिन्न भावसे स्थित हो जाता है॥ ५४॥

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो
जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो
यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः॥ ५५॥

यह जो जगत् है वह श्रुति, युक्ति और प्रमाणसे बाधित होनेके कारण चन्द्रभेद और दिशाओंमें होनेवाले दिग्भ्रमके समान मिथ्या ही है—ऐसी भावना करता हुआ लोक (व्यवहार)-में स्थित मुनि इसे देखे॥ ५५॥

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं
तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो
यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि॥ ५६॥

जबतक सारा संसार मेरा ही रूप दिखलायी न दे, तबतक निरन्तर मेरी आराधना करता रहे। जो श्रद्धालु और उत्कट भक्त होता है, उसे अपने हृदयमें सर्वदा मेरा ही साक्षात्कार होता है॥ ५६॥

रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसङ्ग्रहं
मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान्
स मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात्॥ ५७॥

हे प्रिय! सम्पूर्ण श्रुतियोंके साररूप इस गुप्त रहस्यको मैंने निश्चय करके तुमसे कहा है। जो बुद्धिमान् इसका मनन करेगा, वह तत्काल समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा॥ ५७॥

भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जग-
न्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः
सुखी भवानन्दमयो निरामयः॥ ५८॥

भाई! यह जो कुछ जगत् दिखायी देता है, वह सब माया है। इसे अपने चित्तसे निकालकर मेरी भावनासे शुद्धचित्त और सुखी होकर आनन्दपूर्ण और क्लेशशून्य हो जाओ॥ ५८॥

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥ ५९॥

जो पुरुष अपने चित्तसे मुझ गुणातीत निर्गुणका अथवा कभी-

कभी मेरे सगुण स्वरूपका भी सेवन करता है, वह मेरा ही रूप है। वह अपनी चरण-रजके स्पर्शसे सूर्यके समान सम्पूर्ण त्रिलोकीको पवित्र कर देता है॥ ५९॥

विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं
वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम्।
यः श्रद्धया परिपठेद् गुरुभक्तियुक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः॥ ६०॥

यह अद्वितीय ज्ञान समस्त श्रुतियोंका एकमात्र सार है। इसे वेदान्तवेद्य भगवत्पाद मैंने ही कहा है। जो गुरुभक्तिसम्पन्न पुरुष इसका श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा, उसकी यदि मेरे वचनोंमें प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप हो जायगा॥ ६०॥

।। इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे श्रीरामगीता सम्पूर्णा।।

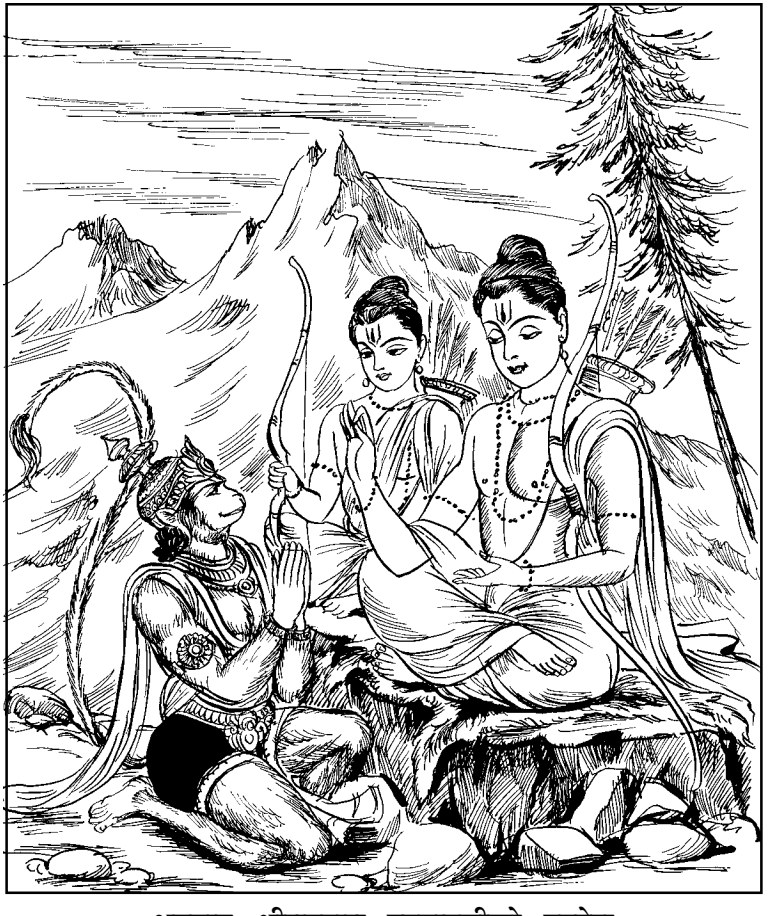

भगवान् श्रीरामद्वारा हनुमान्‌जीको उपदेश